समयसार प्रश्नोत्तरी

लेखकः CA. जयेश शेठ, बोरिवली – www.jayeshsheth.com

1. प्रश्न – जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, तब द्रव्यकर्म को जीव के भावकर्म का निमित्त क्यों कहा जाता है?
उत्तर – जो भी द्रव्यकर्म हैं वे जीव के भूतकाल के भावों के निमित्त से ही बन्धे हैं। अर्थात् वे जीव के भूतकाल के भावों के ही प्रतिनिधि हैं, प्रतिबिम्ब हैं। इसलिये निश्चय से तो जीव के भूतकाल के भाव ही जीव के वर्तमान भावों के निमित्त हैं मगर व्यवहार से जीव के भूतकाल के भावों के ही प्रतिबिम्बस्वरूप द्रव्यकर्मों को भी निमित्त कहा जाता है अथवा कहा जा सकता है। यहाँ व्यवहार का अर्थ असत्य (उपचार) नहीं समझना, यहाँ दो द्रव्य भिन्न होने से उनके भिन्नत्व को दर्शाने के लिये ही उसे व्यवहार कहा है। ज्ञातव्य है कि जीव के भाव, कर्मों के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं इसी लिये उन्हें भावकर्म कहते हैं। वही भावकर्म नये कर्मों के बन्ध के निमित्त भी बनते हैं इस कारण से भी उन्हें भावकर्म कहते हैं। इसलिये जो लोग निश्चय-व्यवहार की योग्य सन्धि को नहीं समझते वे इसे दोनो में से किसी एकान्त से ही प्ररूपित करते हैं।

2. प्रश्न – जब हम एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानते हैं तब उन दोनों द्रव्यों में नित्य कर्तृत्व का प्रसंग नहीं बनेगा?
उत्तर – दो द्रव्यों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तभी तक ही रहता है जब तक उस नैमित्तिक द्रव्य का उपादान निमित्त के अनुकूल होता है। जब उस नैमित्तिक द्रव्य का उपादान निमित्त के अनुकूल नहीं रहता तब फिर उनके बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं रहता। इसलिये उन दो द्रव्यों में नित्य कर्तृत्व का प्रसंग कभी नहीं बनेगा। जैसे जीव राग के निमित्त से रागी बनता है यानी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है मगर जब कोई जीव साधनामग्न होकर गुणस्थानक आरोहण करते हुए दसवें गुणस्थानक से ऊपर चढ़ जाता है तब उन राग के निमित्तों के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा ही नहीं। इसलिये हमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से न डरते हुए तथा ग़लत निमित्तों से बचते हुए अपनी सम्यक् साधना पर ध्यान देना चाहिये।

3. प्रश्न – ज्ञेय में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?
उत्तर – यह सर्वविदित है कि जो परज्ञेय है वह जीव से भिन्न द्रव्य है मगर जो परज्ञेय जीव के लक्षणरूप ज्ञान का ज्ञेय बनता है, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है, या फिर दूसरे शब्दों में कहें, जब जीव पर को जानता है तब वह परज्ञेय जीव के ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है तब वह ज्ञान के आकाररूप होता है। जीव उसी स्वज्ञान के आकार को जानता है। जीव जैसे ही उस ज्ञान के आकार को गौण करता है यानी उससे अपना लक्ष्य हटाकर स्वज्ञान से अहं भाव-एकत्व स्थापित करता है तब उसे ज्ञानज्योति का यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

WWW.JAYESHSHETH.COM

4. प्रश्न – नौ तत्त्वों में छिपी ज्ञानज्योति से भेदज्ञान कर उसका अनुभव कैसे किया जा सकता है?
उत्तर – जीव, अजीव (कर्म-नोकर्मादि), आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर ज्ञान में अहं भाव-एकत्व स्थापित करते ही जानने-देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है।

5. प्रश्न – नौ तत्त्वों में आत्मा को आस्रव-बन्ध बताया है मगर कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा में आस्रव-बन्ध हैं ही नहीं। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सत्य हैं मगर योग्य अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि यदि संसारी आत्मा में आस्रव-बन्ध न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण समझना है न कि चौबीस कॅरट वाला शुद्ध स्वर्ण। लेकिन हाँ, शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को शुद्ध स्वर्ण जैसी आस्रव-बन्धरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु एकान्त से आत्मा के बारे में ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है क्योंकि संसारी आत्मा में आस्रव-बन्ध विद्यमान हैं। तभी तो वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य नय से आस्रव-बन्धरहित होना या न होना समझना चाहिये। और हमें अपना सारा पुरुषार्थ मुक्ति हेतु लगाना चाहिये न कि एकान्त से अपने आप को मुक्त समझकर भ्रम में जीकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

6. प्रश्न – आचार्य हरिभद्र सूरि रचित छह पदों में आत्मा को कर्मों का कर्ता भी कहा है और भोक्ता भी। मगर कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा कर्ता-भोक्ता है ही नहीं, वह तो परम अकर्ता-अभोक्ता है। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उन अपेक्षाओं को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अपने विवेक (अनेकान्त) से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर कर्तृत्व-भोक्तृत्व न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से उत्खनित स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरटवाला शुद्ध स्वर्ण। हाँ, शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को शुद्ध स्वर्ण के समान कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु एकान्त से आत्मा के बारे में ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है क्योंकि संसारी आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व विद्यमान हैं। तभी तो वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें यथायोग्य नय से उसका कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित होना या न होना समझना चाहिये और हमें अपना सारा

पुरुषार्थ मुक्ति हेतु लगाना चाहिये न कि एकान्त से स्वयं को मुक्त और अकर्ता समझकर भ्रम में जीकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

7. प्रश्न – कई लोग पुण्य-पाप को समानरूप से हेय मानते हैं। फिर नौ तत्त्वों में कई लोग पुण्य को उपादेय और पाप को हेय क्यों बताते हैं?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर योग्य अपेक्षा समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लतफ़हमी विवेकहीन ज्ञान की वजह से पनपी है। विवेक से हमें यह समझना है कि पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव होने से और आस्रव हेय होने से उस अपेक्षा से पुण्य और पाप दोनों को समानरूप से हेय कहा जा सकता है। मगर शास्त्रों में लिखा है कि पुण्य का फल शुभ होता है तथा पाप का फल अशुभ होता है। उस अपेक्षा से हम पुण्य को उपादेय और पाप को हेय कह सकते हैं। इसलिये हमें यथायोग्य विवेकानुसार यह समझना है कि साधनाक्रम में पहले क्रमशः पाप छूटता है और फिर जब आत्मा अयोगी हो जाती है तब पुण्य भी छूट जाता है। न कि एकान्त से पुण्य-पाप को समानरूप से हेय मानकर संसार में भटकते रहना चाहिये।

8. प्रश्न – कई लोग शुभभाव और अशुभभाव को समानरूप से हेय बताते हैं। कई लोग शुभभाव को उपादेय और अशुभभाव को हेय बताते हैं क्योंकि शुभभाव से पुण्य और अशुभभाव से पाप बन्धते हैं। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ विवेकहीन ज्ञान की वजह से पनपी है। विवेक से हमें यह समझना है कि शुभभाव तथा अशुभभाव दोनों ही जीव के लिये आस्रव के कारण हैं और आस्रव हेय होने से दोनों को उस अपेक्षा से समानरूप से हेय बताया जा सकता है। मगर शास्त्र कहते हैं कि शुभभाव (पुण्य) का फल शुभ होता है और अशुभभाव (पाप) का फल अशुभ होता है। इस अपेक्षा से हम शुभभाव को उपादेय और अशुभभाव को हेय कह सकते हैं। इसलिये हमें यथायोग्य विवेकानुसार यह समझना है कि साधनाक्रम में पहले क्रमशः अशुभभाव छूटता है और फिर जब आत्मा केवलज्ञानी हो जाती है तब शुभभाव भी छूट जाता है। अपेक्षा से शुद्धभाव में जाने के लिये ही शुभभाव को हेय बताया जाता है, न कि अशुभभाव में रहने के लिये। इस प्रकार एकान्त से शुभभाव और अशुभभाव को समानरूप से हेय मानकर संसार में नहीं भटकना चाहिये।

9. प्रश्न – कई लोग आत्मा में राग-द्वेष के अस्तित्व को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा कभी रागी-द्वेषी नहीं होती, कभी राग-द्वेष नहीं करती। और कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष करती है और उससे वह कर्मबन्ध भी करती है। तब सत्य क्या है?

उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य नयों का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर राग-द्वेष नहीं होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरट शुद्ध स्वर्ण। शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को भी शुद्ध स्वर्ण समान राग-द्वेष रहित आत्मा कहा जा सकता है। परन्तु उसे एकान्त से ऐसा न तो कहा जा सकता है न ही माना जा सकता है। संसारी आत्मा में राग-द्वेष विद्यमान हैं इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य नय से राग-द्वेष होना या न होना समझना चाहिये। और अपना सारा पुरुषार्थ राग-द्वेष को कम करते हुए मुक्ति पाने के लिये लगाना चाहिये। एकान्त से स्वयं को राग-द्वेष से मुक्त मानकर भ्रम में जीकर संसार में नहीं भटकना चाहिये।

10. प्रश्न – कई लोग आत्मा में विकारी पर्याय के अस्तित्व को ही नहीं मानते। वे कहते हैं कि आत्मा उन विकारी पर्यायों से परे है। कुछ लोग कहते हैं कि विकारी पर्याय आत्मा में ही होते हैं और उनके निमित्त से ही कर्मबन्ध होता है। तब सत्य क्या है?

उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बातें सच हैं मगर उस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। अनेकान्त से हमें यह समझना है कि संसारी आत्मा में अगर विकारी पर्याय न होते तो वह आत्मा संसार में क्यों भटकती? इसलिये उस आत्मा को खान से निकला हुआ स्वर्ण अयस्क समझना है न कि चौबीस कॅरट शुद्ध स्वर्ण। शुद्ध निश्चयनय से उस आत्मा को भी शुद्ध स्वर्ण समान विकारी पर्यायरहित आत्मा भी कहा जा सकता है। परन्तु उसे एकान्त से ऐसा न तो कहा जा सकता है और न ही माना जा सकता है। संसारी आत्मा में विकारी पर्याय विद्यमान हैं इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें यथायोग्य नय से आत्मा में विकारी पर्याय होना या न होना समझना चाहिये और अपना पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति में लगाना चाहिये। आत्मा की अन्य योग्यताएँ प्राप्त करके उन विकारी पर्यायों को गौण करते ही यानी उनसे अपना लक्ष्य हटाकर ज्ञान में अहं-एकत्व स्थापित करते ही जानने-देखनेवाली आत्मा यानी ज्ञान की ज्योति यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। यही आत्मज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है, यही समकित है, यही आत्मसाक्षात्कार है। एकान्त से स्वयं को विकारी पर्यायों से रहित मानकर भ्रम में जीकर संसार में नहीं भटकते रहना चाहिये।

11. प्रश्न – कई लोग पर्याय को द्रव्य से भिन्न मानते हैं, उसमें प्रदेश भेद भी मानते हैं। अन्य कई लोग अनुस्युति (continuity) से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर – वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। लोग उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उसे क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशभेद नहीं कह सकते। कई लोग उसे समुद्र और लहरों का उदाहरण देकर भिन्न बताने का प्रयास करते हैं मगर उनको यह पता होना चाहिये कि लहरों में समुद्र ही व्यक्त होता है, वही पानी है अर्थात् समुद्र स्वयं ही लहरों के रूप में व्यक्त हो रहा है। जैसे कि सोना स्वयं ही मुकुट के रूप में, कड़े के रूप में या अन्य किसी भी गहने के रूप में व्यक्त हो रहा है। वहाँ सोना और गहना भिन्न नहीं है, उसमें कोई भी प्रदेशभेद भी नहीं है। क्योंकि जितना क्षेत्र सोने (द्रव्य) का है, वह और उतना ही क्षेत्र उससे बने गहने (पर्याय) का भी है। इसलिये अनुस्युति से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानना उचित है। यानी एक ही वस्तु को देखने के तरीक़े से वही वस्तु द्रव्य या पर्याय जानने में आती है। जैसे गहना पर्याय है और यदि गहने को स्वर्णत्व की दृष्टि से देखें तो वही गहना सोना (द्रव्य) है। उसमें क्षेत्र अपेक्षा से प्रदेशभेद मानना बहुत ही ज़्यादा ग़लत समझ है, जिससे हमें बचना चाहिये।

12. प्रश्न – कई लोग द्रव्य-गुण-पर्याय को तीन भिन्न सत् मानते हैं। वे मानते हैं कि द्रव्य का जो प्रतिबिम्ब पर्याय में प्रतिबिम्बित होता है उसे पर्याय जानती है, उसे आत्मानुभूति कहते हैं। क्या यह सत्य है?

उत्तर – वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों में अच्छी तरह बताया गया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। आप उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का भी है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उन्हें तीन भिन्न सत् नहीं कह सकते हैं। अपेक्षा से उन्हें भिन्न सत् अवश्य बता सकते हैं परन्तु वस्तुतः वे एक हैं, अभिन्न हैं। द्रव्य के वर्तमान रूप को पर्याय कहते हैं और द्रव्य के अभिन्न लक्षणों को गुण कहते हैं। अनुस्युति से रचित पर्यायों के समूह को ही द्रव्य मानना उचित है और उस द्रव्य के हर एक प्रदेश में सभी गुण मौजूद हैं। एक ही वस्तु को समझने के लिये उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद किये गये हैं। वे भेद वास्तविक नहीं हैं। ऐसी अभेद आत्मा की अनुभूति भी तो अभेद ही होगी। इसलिये यह मानना कि द्रव्य का जो प्रतिबिम्ब पर्याय में प्रतिबिम्बित होता है उसे पर्याय जानती है और उसे आत्मानुभूति कहते हैं, बहुत ही बड़ी भूल है। हमें इससे बचना चाहिये।

13. प्रश्न – कई लोग आत्मा को विकारी पर्याय का कर्ता नहीं मानते। वे कहते हैं कि पर्याय का अपने स्वतन्त्र षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमन होता रहता है। और कुछ लोग आत्मा को विकारी पर्याय का कर्ता मानते हैं और कर्मबन्ध भी उसी के निमित्त से होता है ऐसा मानते हैं। तब सत्य क्या है?

उत्तर – यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। वस्तुव्यवस्था बतानेवाले शास्त्रों ने अच्छी तरह बताया है कि द्रव्य से पर्याय अभिन्न है। यह बात हमने अपनी पुस्तक **'सम्यग्दर्शन की विधि'** में विस्तार से बतायी है। आप उसका अध्ययन कर सकते हैं। जो और जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये हम उसमें क्षेत्र की अपेक्षा से प्रदेशभेद नहीं बता सकते। जब द्रव्य और पर्याय अभिन्न हैं तो उनके षट्कारक भी तो अभिन्न ही होंगे। जब तक हम आत्मा की अभेदता को नहीं समझेंगे तब तक आत्मानुभूति अशक्य ही है। क्योंकि अभेद आत्मा की ही अनुभूति होती है न कि भेदरूप (द्रव्य-पर्याय) या आधी (पर्याय से भिन्न द्रव्य की) आत्मा की। अनुभूति के समय पर्यायें गौण होकर द्रव्य में ही अन्तर्गर्भित हो जाती हैं। इसी तरह द्रव्य-पर्यायमय आत्मा अभेद हो जाती है न कि पर्यायरहित द्रव्य की अनुभूति से, जो कि आकाशकुसुम की भाँति असम्भव है। वास्तव में आत्मा ही कर्मों के निमित्त से उस विकारी पर्यायरूप में परिणमती है और उस आत्मा के परिणमन को निमित्त बनाकर ही कर्म बन्धते हैं। इस तरह संसारी आत्मा ही उस विकारी पर्यायरूप में परिणमती है इसलिये वह संसारचक्र से मुक्त नहीं हुई है। अन्यथा वह मुक्तात्मा होती। इसलिये हमें उसे यथायोग्य वस्तुव्यवस्था से अभेद आत्मा के अभेद षट्कारक को समझना चाहिये, न कि द्रव्य-पर्याय में प्रदेशभेद मानकर दोनों के षट्कारक भिन्न समझना चाहिये।

14. प्रश्न – क्या निश्चयनय से भी आत्मा अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है?
उत्तर – जी हाँ, निश्चयनय से भी आत्मा अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है। निश्चय अर्थात अभेद और व्यवहार अर्थात भेद। निश्चयनय से आत्मा अपने भावों की कर्ता-भोक्ता है, परभाव की नहीं। इसलिये उसे अपनी विकारी पर्याय की भी कर्ता-भोक्ता मानना आवश्यक है। अन्यथा उस विकारी पर्याय का कर्ता-भोक्ता किसी अन्य द्रव्य को मानने का प्रसंग आ जायेगा जबकि अन्य द्रव्य को विकारी पर्याय का उपादान रूप से कर्ता-भोक्ता नहीं माना जा सकता। हाँ, उसे निमित्त रूप से कर्ता अवश्य मान सकते हैं। निश्चयनय से उपादान स्वयं ही परिणमता है, स्वयं ही अपने परिणामो का कर्ता है। इससे समझ में आता है कि निश्चयनय से आत्मा ही अपनी विकारी पर्याय की कर्ता-भोक्ता है।

15. प्रश्न – जब हमारा परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है तब पर्याय का क्या होता है? यानी पर्याय उसमें शामिल है या नहीं?
उत्तर – जब हमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से प्राप्त परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है यानी कि शुद्धात्मा की अनुभूति होती है तब पर्याय स्वयमेव ही गौण हो जाती है अर्थात् उस परमपारिणामिकभाव में अन्तर्गर्भित हो जाती है। इस तरह से अनुभूति सदैव अभेदद्रव्य की ही होती है न कि पर्यायरहित भेद की यानी खण्डित द्रव्य की। खण्डित द्रव्य की अनुभूति कभी नहीं हो सकती क्योंकि खण्डित द्रव्य होता ही नहीं है। हाँ, उसका भ्रम अवश्य होता है।

16. प्रश्न – कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानती। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आत्मा स्व-पर को जानती है और वह उसका स्वभाव है। और कुछ लोग यह कहते हैं कि आत्मा निश्चय से स्व को ही जानती है, पर को तो व्यवहार (उपचार) से ही जानती है। तब सत्य क्या है?

उत्तर – अपेक्षा से प्रथम दोनों ही बातें सच हैं और तीसरी बात में व्यवहार को उपचार न समझकर उसे भेदरूपी व्यवहार समझना चाहिये। अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग एकान्त से किसी एक बात को सच और दूसरी को झूठ मान लेते हैं। यह ग़लत समझ यथायोग्य वस्तुव्यवस्था (वस्तुस्वरूप) का ज्ञान न होने से पनपी है। आत्मा की जानन-क्रिया की व्यवस्था ऐसी है कि आत्मा पर को अपने ज्ञान के आकाररूप से जानती है, इस अपेक्षा से यह कह सकते हैं कि आत्मा पर को नहीं जानती और मात्र अपने ज्ञेयाकार को ही जानती है। वास्तव में स्व-पर को जानना आत्मा का स्वभाव होने से, आत्मा का लक्षण होने से, आत्मा की पहचान होने से हम कह सकते हैं कि आत्मा स्व-पर को जानती है। पर को जानते वख्त आत्मा पर को स्व से भिन्न जानती है। स्वयं ज्ञानाकाररूप होने के बावजूद वहाँ स्व-पर का भेद होने से उसे व्यवहार कहा जाता है (अभेद=निश्चय, भेद=व्यवहार)। न कि उपचारमात्र व्यवहाररूप। सबको अपनी-अपनी ग़लत समझ वस्तुव्यवस्था को यथायोग्य समझकर दूर कर देनी चाहिये और एकान्त से बचना चाहिये।

17. प्रश्न – कई लोग आत्मा पर को नहीं जानती ऐसा कहकर अपनी आत्मा में जाने की सीढ़ी को ही नकार देते हैं और सोचते हैं कि इस मान्यता से सम्यग्दर्शन हो जायेगा। क्या यह सत्य है?

उत्तर – आत्मा की जानन-क्रिया की व्यवस्था ऐसी है कि आत्मा पर को अपने ज्ञान के आकाररूप से जानती है। इस अपेक्षा से आत्मा पर को नहीं जानती मगर अपने ज्ञेयाकार को ही जानती है ऐसा कह सकते हैं। यह व्यवस्था होने के बावजूद जब हम उसे एकान्त से ऐसा मानकर चलते हैं तब हम अपनी आत्मा में जाने की सीढ़ी को ही नकार देते हैं। यह सत्य है। मगर अज्ञानी जीव स्व को तो जानता ही नहीं। अगर वह यह मान्यता रखेगा कि आत्मा पर को नहीं जानती तब वह आत्मा के लक्षण को ही नकार देगा अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को, आत्मा की पहचान को ही नकार देगा। ऐसा मानकर आत्मा कैसे सम्यग्दर्शन यानी आत्मा का अनुभव कर पायेगी? अर्थात् सम्यग्दर्शन पाने की सम्भावना दुर्लभ और दुष्कर हो जायेगी। इसलिये आत्मा पर को नहीं जानती ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन हो जायेगा यह बात सत्य नहीं है।

18. प्रश्न – कई लोग क्रमबद्धपर्याय के निर्णय को, उसके प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानते हैं। अन्य कई लोग क्रमबद्धपर्याय को नियतिवाद मानते हैं। सत्य क्या है?

उत्तर – भगवान के ज्ञान में तीनों काल की पर्यायें झलकती हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि सभी पर्यायें क्रमबद्ध हैं। तभी तो वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनती हैं। केवल इसी अपेक्षा से क्रमबद्धपर्याय को सही कहा जा सकता है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय के प्रति श्रद्धा को सम्यग्दर्शन

मानना ग़लत होगा क्योंकि सम्यग्दर्शन के लिये आत्मानुभूति परम आवश्यक है न कि भगवान के ज्ञान का निर्णय। यदि हम ऐसा कहें कि वे पर्यायें केवली के ज्ञान के ज्ञेय बनी हैं इसलिये वैसी घटनेवाली हैं तो यह हमारी ग़लत समझ होगी। वे पर्यायें पाँच समवायपूर्वक ही वैसी घटनेवाली हैं इसलिये वे केवली के ज्ञान में ज्ञेय बनी हैं, किसी अन्य कारण से नहीं। पाँचों समवायों में से नियति को तो हम जानते ही नहीं। न ही नियति हमारे ज्ञान का विषय है। हमारे हाथ में एकमात्र पुरुषार्थ ही है, वही प्रधान है। इसलिये हमारे लिये योग्य पुरुषार्थ करना ही उचित होगा क्योंकि भगवानने क्या देखा है यह हमें ज्ञात नहीं है। इसे हम अपेक्षा से नियति भी कह सकते हैं, क्रमबद्धपर्याय भी कह सकते हैं। परन्तु एकान्त से क्रमबद्धपर्याय को सही मानना अवश्य ही नियतिवाद कहलायेगा। भगवानने जो भी देखा है वह बिना पुरुषार्थ के तो होगा ही नहीं। इसलिये हमें अपना पूरा ध्यान योग्य पुरुषार्थ पर लगाना है न कि क्रमबद्धपर्याय पर जो हमें ज्ञात ही नहीं है। हाँ, पूरा ज़ोर लगाकर योग्य पुरुषार्थ करने के बाद जो भी परिणाम आता है उसे हमें अवश्य ही क्रमबद्धपर्याय (या नियति) मानकर स्वीकार लेना है। सच में तो क्रमबद्धपर्याय पाँचों समवायपूर्वक ही होता है यानी उसमें पाँचों समवाय समाहित होते हैं। भगवानने पाँचों समवाय देखे है, पाँचों समवाय पूर्वक ही पर्याय को देखी है।

19. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में बतायी एकत्व-विभक्त आत्मा यानी क्या? ज्ञानी का किससे एकत्व, किससे विभक्त समझना चाहिये?

उत्तर – **'समयसार'** ग्रन्थ में एकत्व-विभक्त आत्मा जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) बनाने के लिये बतायी गयी है। जब कोई मिथ्यादृष्टि जीव राग-द्वेषरूप परिणम रहा हो तब उस राग-द्वेषरूप परिणमित जीव में से (प्रमाण के द्रव्य में से) राग-द्वेष को गौण करते ही यानी विभक्त करते ही जो शेष जीवभाव है (परमपारिणामिकभाव है) उससे एकत्व करना है। यही **'समयसार'** का सार है, यही आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि है। परमपारिणामिकभाव में एकत्व और विभाव से विभक्त यानी विभाव को गौण करना। विभक्त यानी भिन्न नहीं अर्थात् उसको अपना नहीं मानना ऐसा नहीं परन्तु उसे एकत्व करने लायक नहीं समझना क्योंकि वह आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है। इस तरह अपने त्रिकालस्वरूप से एकत्व और क्षणिकस्वरूप से विभक्त समझना चाहिये।

20. प्रबुद्ध जीवों को यह समझना चाहिये कि खीर के भगोने में एक बूँद भी विष गिर गया तो वह खीर खाने लायक नहीं रहती। इसी प्रकार अध्यात्ममार्ग में असत्य प्ररूपणा की ज़रा-सी बूँद भी पड़ जाये तो वह मार्ग साधक के लिये विषाक्त खीर के समान ज़हरीला हो जायेगा।

21. जब भी कोई कार्य होता है तो उसमें पाँचों समवायों का योगदान होता है। मुख्य-गौण न करते हुए एकान्त से किसी एक समवाय को उस समूचे कार्य की निष्पत्ति का श्रेय देना मिथ्यात्व होगा। इकट्ठा पाँचों समवायों को कार्यनिष्पत्ति का श्रेय देना सम्यक् होगा।

22. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में बताये अनुसार पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं क्या? क्या ये सभी आत्मा की अवस्थाएँ नहीं हैं?
उत्तर – पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि अवश्य ही आत्मा की अवस्था-विशेष हैं। आत्मा की अवस्था यानी आत्मा का वर्तमान अर्थात् आत्मा का विशेषभाव। कोई भी द्रव्य अपने वर्तमान के बिना नहीं होता। सो आत्मा भी अपने वर्तमान सहित ही होती है। इसलिये बेशक पाप (अशुभभाव), पुण्य (शुभभाव), आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि सभी आत्मा की अवस्थाएँ होने से आत्मा में ही हैं; उससे भिन्न क़तई नहीं है, यह समझना परम आवश्यक है। **'समयसार'** ग्रन्थ में इन सबको कुछ कारण-विशेष से यानी कि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की अनुभूति बताने के लिये आत्मा से भिन्न बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि को इन सबसे भेदज्ञान होकर परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। यही **'समयसार'** का सार है। आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है। सम्यग्दृष्टि जीव परमपारिणामिक-भाव से एकत्व करता है और विभाव से विभक्त होता है यानी विभाव को गौण करता है। विभक्त यानी भिन्न नहीं अर्थात् उसको अपना नहीं मानना ऐसा नहीं परन्तु उसे एकत्व करने के लायक नहीं समझना क्योंकि वह आत्मा का त्रिकालस्वरूप नहीं है। इस तरह अपने को त्रिकालस्वरूप से एकत्व और क्षणिकस्वरूप से विभक्त समझना चाहिये। यही **'समयसार'** का सार है।

23. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में बताये अनुसार पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं। तब क्या हमें मोक्ष के लिये यथायोग्य पुरुषार्थ करना ही नहीं है?
उत्तर – पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि को **'समयसार'** ग्रन्थ में कुछ कारण-विशेष से यानी कि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की अनुभूति बताने के लिये आत्मा से भिन्न बताया गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को इन सबसे भेदज्ञान होके परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि ये सब आत्मा से भिन्न होने से अर्थात् आत्मा में नहीं होने से हमें किङ्कर्तव्यविमूढ होकर संसार में भटकना है। हर समय अशुभ से बचकर शुद्ध के लक्ष्य से शुभ में रहते हुए पहले आत्मप्राप्ति के लिये और बाद में आत्मस्थिरता के लिये यथायोग्य पुरुषार्थ करना ही हमारा कर्तव्य है। मूढमति अज्ञानी जीव यह बात नहीं समझते हैं इसलिये वे अनादि से संसार में भटक रहे हैं। हमें इस रहस्य को भलीभाँति समझकर निरन्तर यथोचित पुरुषार्थ करना चाहिये।

24. प्रश्न – द्रव्यदृष्टि में पर्याय का क्या होता है? क्या पर्याय उसमें शामिल है?
उत्तर – जब हम द्रव्यदृष्टि से जीव को देखते हैं तब पर्याय स्वयमेव ही गौण हो जाती है अर्थात् द्रव्य में अन्तर्गर्भित हो जाती है। द्रव्य सदैव अपने वर्तमानसहित ही होता है, वह अपने वर्तमान के बिना तो अपना अस्तित्व ही गँवा बैठेगा, यानी कि द्रव्य ही नहीं रहेगा। इसलिये द्रव्य सदैव अभेद

ही होता है न कि भेदवाला यानी पर्यायरहित/खण्डित। खण्डित द्रव्य तो आकाशकुसुमवत होता है यानी केवल भ्रम ही होता है।

25. प्रश्न – पर्यायदृष्टि में द्रव्य का क्या होता है? यानी द्रव्य पर्यायदृष्टि में शामिल है या नही?
उत्तर – जब हम पर्यायदृष्टि से जीव को देखते है तब द्रव्य स्वयमेव गौण हो जाता है अर्थात् पर्याय में अन्तर्गर्भित हो जाता है। पर्याय यानी द्रव्य की वर्तमान अवस्था, वह बिना द्रव्य के कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती। इसलिये पर्याय सदैव द्रव्य की ही होती है न कि द्रव्यरहित भेदवाली, यानी खण्डित पर्याय। खण्डित पर्याय तो आकाशकुसुमवत होती है यानी केवल भ्रम ही होती है।

26. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में आत्मा को अकर्ता कहा है और आचार्य हरिभद्र सूरि रचित छह पदों में आत्मा को कर्ता कहा है। तब सत्य क्या है?
उत्तर – अपेक्षा से दोनों ही बाते सच हैं मगर अपेक्षा समझे बिना कुछ लोग एकान्त से एक बात को सच मानते हैं और कुछ लोग एकान्त से दूसरी बात को सच मानते हैं। यह ग़लत समझ नयों का यथायोग्य ज्ञान न होने से पनपी है। वास्तव में संसारी आत्मा अपने भावकर्मों तथा अपने ज्ञान की कर्ता है और मोक्षस्थ आत्मा केवल अपने ज्ञान की कर्ता है। परन्तु **'समयसार'** ग्रन्थ में कुछ कारणविशेष से यानी मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) जीव की स्वात्मानुभूति समझाने के लिये आत्मा को अकर्ता बताया है क्योंकि परमपारिणामिकभाव सामान्यभाव होने से परम अकर्ता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी **'समयसार'** पर रची अपनी **आत्मख्याति टीका** श्लोक २०५ में अज्ञानी को नियम से कर्ता कहा है, जबकि ज्ञानी को परम अकर्ता कहा है। इस तरह सम्यग्दृष्टि को कर्ताभाव से यानी विशेषभाव से भेदज्ञान होकर परमपारिणामिकभाव से एकत्व होता है। यही **'समयसार'** का सार है, आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

27. प्रश्न – **'समयसार'** ग्रन्थ में आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में विशेषान्तर जानने को कहा है, तो उनमें विशेषान्तर क्या है? उसे जानने का फल क्या है?
उत्तर – आत्मा का जो त्रिकाल स्वभाव है वह ज्ञानस्वभाव है और आत्मा में होने वाले क्रोधादि आस्रव है वह आगन्तुक स्वभाव है यानी वह त्रिकाल नहीं है पर कुछ काल के लिये ही होता है। आत्मा का त्रिकाल स्वभाव हर आत्मा में विद्यमान होता है परन्तु जो क्रोधादि आस्रवभाव हैं वे हर आत्मा में विद्यमान नहीं होते। अन्य रीति से कहें तो क्रोधादि आस्रव विशेषभाव हैं और त्रिकाली स्वभाव सामान्यभाव है। यह है आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में विशेषान्तर, उसे समझकर आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित जिस जीव का आत्मा के त्रिकाल स्वभाव से एकत्व (अहं) होता है तब क्रोधादि आस्रव स्वतः गौण हो जाते हैं और वह जीव सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) बन जाता है। यही आत्मा और क्रोधादि आस्रव के विशेषान्तर समझने का फल है। यही **'समयसार'** का सार है, यही आत्मा की अन्य योग्यताओं सहित सम्यग्दर्शन की विधि है।